
आगे और चलें तो शायद

(बच्चों की पत्रिकाओं पर एक नजर)

□ पल्लव

बचपन में मेरा पहली बार जिस बाल पत्रिका से परिचय हुआ वह नंदन थी और इसलिए भी थी कि मेरी मां और मौसी को भी उनके बचपन में यही पत्रिका पढ़ना पसन्द था। ये शायद मेरी चौथी कक्षा के दिन थे, फिर मैंने जल्द ही बाल भारती, पराग से भी निकटता बढ़ाई। जब मैं छठी सातवीं में आया तभी राजस्थान के सबसे बड़े दैनिक राजस्थान पत्रिका ने एक बाल पत्रिका शुरू की 'बालहंस'। साथ-साथ उस दौर में चंपक, चन्दामामा, गुड़िया और धर्मयुग, साप्ताहिक हिन्दुस्तान सहित दैनिक अखबारों में बच्चों के पन्ने भी थे। अब बच्चों की पत्रिकाएं कैसी हैं ? यह जानना मेरे लिए एक रोचक यात्रा करने जैसा निमन्त्रण था। हिन्दी की लघु पत्रिकाओं को चाव से पढ़ने वाले पाठक को यह अच्छा लगना स्वाभाविक है ही। फिर जब इंटरनेट, टीवी और कई आकर्षणों के बीच साहित्य की प्रासंगिकता पर बहस चल रही है तब बच्चों के लिए उपलब्ध साहित्य पर देखना जरूरी है कि उन्हें क्या विकल्प मिल रहा है। आंकड़े नहीं होने पर भी यह माना जाता है कि 41 वर्षों से लगातार छपती आ रही नंदन बच्चों की सर्वाधिक लोकप्रिय, बिकने वाली पत्रिका है। चंपक, बालहंस भी कमोबेश इस श्रेणी में हैं। चंपक पर यह उल्लेख नहीं होता कि इसे प्रकाशित होते कितने वर्ष हुए हैं लेकिन 845 अंकों (पाक्षिक) के आधार पर अनुमानतः 35-36 वर्ष जरूर हुए होंगे। बालहंस को भी 20 वर्ष हो गए हैं और एक दूसरी पत्रिका जिसे स्टॉल पर बिकते बहुतसों ने न भी देखा हो पर

उसकी उपस्थिति महसूस की जाती है वह है चकमक मासिक बाल विज्ञान पत्रिका। इसे भी दृश्य पर 21 वर्ष हो चुके हैं।

तो बातचीत नंदन से ही शुरू की जाए। नंदन का सम्पादन इन दिनों सुपरिचित लेखिका मृणाल पाण्डे कर रही हैं, उनके सम्पादन की छाप नंदन पर दिखाई भी देती है। क्योंकि हमारे 'भइया' दिवंगत जयप्रकाश भारती के सम्पादन में बरसों निकलती नंदन की एकरसता हमने देखी है। मैं अपने बचपन में बेशक नंदन नियमित पढ़ता था लेकिन मुझे बाल भारती कहीं ज्यादा उपयोगी, जरूरी और वैज्ञानिक भी लगती थी। चंदामामा, गुड़िया बिल्कुल पोंगापंथी जैसी, जहां भूत-पिशाचों से जूझना मुझे अच्छा नहीं लगता था, तो चंदामामा और बाल भारती के दो छोरों के बीच कहीं होती थी नंदन। अप्रैल में प्राचीन कथा विशेषांक, अक्टूबर-नवम्बर में दीपावली पर उपहार अंक और जनवरी में कैलेण्डर यह सब तय था। बच्चों का अखबार हर महीने भीतर होता ही था। नंदन एलबम में हर महीने किसी व्यक्ति या स्थल का सुंदर चित्र होता था जिससे मुझे यही शिकायत रहती थी कि साल में छह-आठ बार किसी मंदिर (खास तौर पर बिड़ला मंदिर), देवी-देवता के दर्शन होते थे। कहानियां हमेशा एक था राजा की तान से शुरू होने वाली और भीतरी सजावट हमेशा एक जैसी। मृणाल जी ने आकर थोड़ा परिवर्तन किया, आवरण को चटख और रंग-बिरंगा किया, 'नंदन' के मास्टर हेड को भी बदला। नजर दौड़ाएं तो पाते हैं कि नंदन ने



2005 में नयी तकनीक, सापेक्षता सिद्धान्त के सौ साल, आजादी की कहानी, फिल्म और टेलीविजन, फास्ट फूड जैसे विषयों पर विशेषांक निकाले, इसकी कल्पना भी भारती जी के सम्पादन में असंभव थी। सामग्री में और भी परिवर्तन देखे जा सकते हैं लेकिन कुल मिलाकर लगता यही है कि भारती जी के सम्पादन में पुनरूत्थानवाद में लिपटा नंदन अभी नये उदारीकरण के साथ कदमताल में गड़बड़ होता जा रहा है। आप कितने बुद्धिमान हैं, तेनालीराम, ज्ञान पहेली जैसे पुराने और कार्टून कवि एक रंग अनेक जैसे नये स्तम्भों पर खड़ी नंदन की दिक्कत यही समझ में आती है कि दृष्टिसम्पन्नता का अभाव व्यापक आधार वाली पत्रिका का भी नुकसान कर सकता है। दिसम्बर 2005 अंक में प्रकाशित बच्चों के प्रसिद्ध लेखक डॉ. हरिकृष्ण देवसरे की एक कहानी लीजिए 'पॉटर चिप्स', कहानी में पहले तो भारतीय फास्ट फूड (समोसा इत्यादि) और विदेशी फास्ट फूड (पिज्जा, बर्गर) को आमने-सामने रखा गया, फिर ऐसी ही एक पॉटर चिप्स के खाने से बच्चों के स्वास्थ्य के खराब हो जाने और उस कम्पनी के मालिक को गिरफ्तार कर लेने के साथ कहानी खत्म होती है। पता नहीं डॉ. देवसरे बच्चों को क्या बताना चाह

रहे हैं, ऐसे बाल मनीषियों ने पहले टीवी. इंटरनेट के आने पर खूब स्यापा किया, संस्कृति की भी दुहाई दी लेकिन इससे क्या होता है ? आप विकल्प क्या दे रहे हैं ? मैं आज अपनी बेटी को आइसक्रीम की दुकान वाले रास्ते से न ले जाऊं तो क्या वह आइसक्रीम खाना भूल जाएगी ? खैर, कहानी की भाषा ऐसी है कि बच्चे तो बच्चे बड़े भी शरमा जाएं। कहानी के एक पात्र राहुल का संवाद देखें - 'मेरे पापा तो कहते हैं कि हर वह चीज अपनाओ जिसे दुनिया के दूसरे देश अपना रहे हैं। चाहे वह फास्ट फूड हो, कपड़े हों, नृत्य हो, संगीत हो या कोई प्रसिद्ध उपन्यास।' ऐसी हिन्दी तो

बड़े भी नहीं बोलते डॉक्टर साहब। गड़बड़ यहीं है। यह गड़बड़ भारती जी की नंदन में भी थी और मृणाल पांडे की नंदन में भी। वर्तमान से टकराने या जूझने की बजाए बचने-छिपने का यह चोर रास्ता कहीं नहीं ले जाएगा।

बालहंस के संस्थापक सम्पादक अनन्त कुशवाहा होते थे। चित्रकथाएं बनाने वाले चित्रकार-कथाकार। 'बालहंस' के संपादक



अब गुलाब कोठारी हैं, मानस 1-2-3 जैसे ग्रंथ के रचयिता। बच्चों की पत्रिका का संपादन करें बच्चों का सौभाग्य ! बालहंस में प्रारंभ से ही सामग्री का वैविध्य रहा है। कहानियां, लेख, चित्रकथाएं और रंगीन चित्र। इधर गुलाब कोठारी ने बालहंस को अन्तर्राष्ट्रीय पत्रिका बनाने की ठान ली है तभी मुखपृष्ठ पर अंग्रेजी में महीने का नाम और एवरी फोथ नाइट के साथ भीतर अंग्रेजी में चार छह पृष्ठ हैं। संभव है वास्तुशास्त्रियों ने भी कहा हो। मुझे अब यह पीड़ा होती है कि हमारे भारतीय ज्योतिष वैज्ञानिक अंग्रेजी वालों को ऐसे मौलिक विचार क्यों नहीं देते ? खैर! अक्टूबर सैकंड 2005 के



अंक की एक चित्रकथा दोस्ती का संदेश ही बालहंस का संदेश लगता है जिसका समापन वाक्य है - 'ऊंचे दर्जे वाले कभी निचले दर्जे वालों के साथ नहीं लड़ते। लड़ाई केवल बराबरी वालों के साथ होती है।' यह सूअर और शेर के मध्य संवाद की कहानी है। कहानी इतनी आपत्तिजनक है कि बच्चों में अच्छे-गंदे, ऊंचे-नीचे की सामन्ती सोच भरती है। पहली बात तो यह कि जंगल की कहानी में जो सूअर वर्णित है वह जंगली सूअर नहीं बल्कि शहरी सूअर है। निश्चित ही यह कहानी पढ़कर पाठक में जाति भेद और छुआछूत का विचार पनपेगा। लेकिन यह बालहंस का जीवन दर्शन है जो मानस 1-2-3 से रोशनी लेता है। मई (प्रथम) 2005 के बालहंस में यह दर्शन है - 'समाज का व्यवहार, धार्मिक सिद्धांत, परम्पराएं आदि का यदि आकलन किया जाए, तो संयम बरतने के अनेक उदाहरण सामने आएंगे।' तो यही समझें कि संयम रखें। संसार जैसा है वैसा ही तो रहेगा बन्धु! और दर्शन चाहें तो अपने बच्चों को मार्च द्वितीय 2005 का जीवन दर्शन बताएं जहां मंत्रों के महत्त्व का उद्घाटन है। भारतीय संस्कृति इन्हीं दर्शनों-रास्तों में सुरक्षित है, भला पश्चिमी संसार हमारा क्या बिगाड़ लेगा? बालहंस की बड़ी दिक्कत यही नहीं है, उपदेशों की भरमार बालहंस का चरित्र है, महोपाध्याय ललितप्रभ सागर से स्वामी रामतीर्थ तक जाने-अनजाने उपदेशकों के उद्धरण देकर सम्पादक जिस वायवी आदर्श को थोपते हैं वह लचर और दयनीय नजर आता है। उपदेशात्मकता से नंदन को 'दीदी' (मृणाल पाण्डे) भी नहीं बचा पाई हैं। वे भी 'यह करना', 'वह न करना' जैसी बातें करती हुई सामग्री को भी उपदेशों से बचा नहीं पातीं। बच्चे उपदेश नहीं सुनते, बड़े भी नहीं सुनते। उपदेशों से समाज का भला हो सकता होता तो अब तक जरूर हो गया होता क्योंकि उपदेशकों के निर्माण में भारत अग्रणी रहा है। भाषा के संबंध में बालहंस की सावधानी जरूर जान लेना चाहिए। जुलाई (प्रथम) 2005 के बालहंस में प्रकाशित चित्रकथा 'चिम्पी' (जो नियमित हर अंक में छपती है) में मां का कथन देखिए - 'आजकल ये बहुत शैतानी करने लगी है। इसे सबक का पाठ पढ़ाना होगा।' भाषा संबंधी ऐसी भयानक गड़बड़ें इन अंकों में सामान्य हैं। यहां एक और बात ध्यान देने योग्य है। वह है लोकप्रियता में सरलता और सपाटता का अन्तर। सरलता का यह अर्थ नहीं होता कि सम्पादकीय में ऐसा वाक्य लिखा जाए - 'हम आगे भी नई प्रतियोगिताएं और क्रिएटिव सामग्री आपके लिए जुटाते रहेंगे। बालहंस के नए रूप को आपने स्वीकार किया है, इसके लिए थैंक्स।' (अक्टूबर सैकण्ड 2005) अगर यह बाजार का दबाव है तो भी सम्पादक महोदय नहीं समझे, ऐसी खिचड़ी भाषा से पत्रिकाएं दीर्घजीवी नहीं होतीं।

'चंपक' भी लगातार निकल रही है लेकिन उसकी सीमाएं इतनी स्पष्ट हैं कि सम्पादक उन्हें छिपाते भी नहीं। शायद ही कोई बच्चा आठ-नौ साल के बाद चंपक पढ़ना पसंद करे। आखिर चंपक वन में 'पिटू अजगर की गंदी-गंदी हरकतों' को कोई बच्चा कैसे झेल सकता है। छोटे और बहुत छोटे पाठकों को ध्यान में रखकर गढ़ी गई यह पत्रिका न तो किसी विचार का विकास करती है और न ही बच्चों को साहित्य प्रेम का संस्कार ही देती है। चंपक में मौलिकता और सृजनात्मकता का घनघोर अभाव बच्चों के लिए किसी काम का नहीं रहता और उनके व्यक्तित्व को सांचे में बांधकर कुंद कर देता है।

दरअसल यह ऐसा पाठक वर्ग तैयार करती है जो एक अपेक्षित सा साहित्य ही पढ़ पाता है, आगे जाकर यही पाठक वर्ग 'वर्दी वाला गुण्डा' सरीखे लुगदी साहित्य को पसंद करने वाला और 'क' नाम से शुरू होने वाले टीवी सीरियल देखने वाला समुदाय बनता है।

तो विकल्प क्या है? 'बाल भारती' सरकारी तंत्र में ऐसी उलझी है कि उसकी उपलब्धता ही कठिन है। भारत सरकार के प्रकाशन विभाग द्वारा प्रकाशित इस मासिक को डाक से ही मंगवाया जा सकता है। विकल्प की तलाश में 'चकमक' भी हमारे समक्ष है। मासिक बाल विज्ञान पत्रिका। सुप्रसिद्ध कथाकार रमेश उपाध्याय की कथाकार संपादक बेटी संज्ञा ने एक बार मुझे बताया था कि आज तक चकमक उनके घर में आती है और झगड़ा होता है कि पहले कौन पढ़ेगा। कोई छह व्यक्तियों की सम्पादकीय टीम द्वारा 'एकलव्य' के सहयोग से प्रकाशित इस पत्रिका की विशेषता है वैज्ञानिक विचार, जो सामग्री में ही नहीं अपितु प्रस्तुतीकरण में भी दिखाई पड़ते हैं। इधर पिछले साल भर में यह कोरी विज्ञान पत्रिका रह भी नहीं गई है, समाज विज्ञान और साहित्य की बढ़िया सामग्री बच्चों के लिए यहां उपलब्ध है। चकमक के साथ भी एक दिक्कत जरूर दिखाई देती है वह है उपदेशात्मकता; यद्यपि इसके सम्पादकीय में इससे बचने का सायास प्रयास दिखता है। दूसरी बात सहजता से उपलब्ध न हो पाने की है। इसे तोड़ने के लिए चकमक को ठीक वैसी ही मेहनत वितरण में भी करनी चाहिए जो वे सामग्री संयोजन में करते हैं। अन्यथा थोड़े से पाठकों के बीच रह जाने से पत्रिका की उपयोगिता सीमित ही तो रहेगी। फिर जब हमारे देश में झाड़ू और अगरबत्ती के विज्ञापन हो सकते हैं तो किताब और पत्रिकाओं के क्यों नहीं? आखिर में खास बात है बच्चों को जोड़ने की पहल-किताब से और कला से। जितनी रचनाएं चकमक स्वयं बच्चों से तैयार करवाता है उतनी और कोई बाल पत्रिका नहीं। प्रस्तुतीकरण और चित्रों के लिहाज से भी पत्रिका बेहद आकर्षक है।



इन बाल पत्रिकाओं से गुजरते हुए मुझे हंस में प्रकाशित श्रीमती सहजो सिंह का लेख 'मेरे बच्चे हिन्दी नहीं पढ़ते' फिर याद आ गया। दरअसल बाल साहित्य की हमारी समझ इस कदर समस्याग्रस्त और अभिमानपूर्ण है कि हमारे बच्चों के लिए ये पत्रिकाएं उपयोगी नहीं रह पातीं। बच्चों की पत्रिकाओं के माध्यम से यह बात साफ हो जाती है। चकमक जैसी पत्रिकाएं अपवादस्वरूप ही हैं जिस तरह लघु पत्रिकाओं ने ग्लोबलाइजेशन की निराशा को धोने का साहस दिखाया है वैसी पहल अभी बाकी है। हिन्दी संसार के बच्चों के लिए 'चकमक' जैसी हजार पत्रिकाएं चाहिए जो बच्चों को गुदगुदाकर टाले नहीं बल्कि विकल्प का दम भी रखें।

पुनश्च :

इस संक्षिप्त आकलन के बाद तीन पत्रिकाओं की प्रतियां और मिल गईं। सुविधा है कि इन पर भी थोड़ी बात हो सके। 'बाल भारती' का उल्लेख ऊपर हुआ है। इसके जनवरी 06 अंक में कहानी प्रतियोगिता 2005 की पुरस्कृत कहानियां और छिटपुट लेख हैं। यह समझ नहीं आता कि जब बाल भारती सूचना और प्रसारण मंत्रालय के प्रकाशन विभाग की पत्रिका है, 1948 से लगातार मासिक और इसका प्रसार पूरे देश में होने का दावा (या संभावना भी) है तो कहानी प्रतियोगिता जैसा आयोजन केवल दिल्ली के बच्चों के लिए क्यों? अच्छी बात यह है कि भाषिक अशुद्धियां और प्रूफ की गलतियां दूढ़ने पर भी यहां नहीं हैं। जो बड़ी पत्रिकाओं में भी सामान्य हैं। मेरे बचपन वाले कपीशजी (कार्टून शृंखला) तो बिदा हो गए लेकिन पत्रिका का अब भी ठीक ठाक होना संतोषप्रद है। विभा जोशी (जो इसका संपादन कर रही हैं) थोड़ा और प्रयास करें तो पत्रिका काम की हो सकती है। दूसरी पत्रिका की मुझे ज्यादा आशाएं थीं, अनुराग ट्रस्ट (जो एक वामपंथी संगठन 'जन चेतना' से जुड़ा है) द्वारा प्रकाशित 'अनुराग' को देखते ही झटका लगा कि यह त्रैमासिक क्यों है? बच्चे तीन महीने में एक बार पढ़कर क्या हासिल करेंगे? झटका और भी खटका, जब खोलते ही कृष्ण चन्दर की दिलचस्प कहानी 'उल्टा दरखत की आखिरी किस्त' देखने को मिली। अब क्या नानी

मां (कमला पाण्डे, संपादक, अनुराग) एक कहानी को तीन महीने बाद पूरी करें और पोते-पोती सब समझ जाएं? यह ज्यादाती है साथी। ज्यादाती यह भी है कि बच्चों को ठीक वैसे ही कॉमरेड बनाया जाए जैसे तरीकों की निन्दा करते नहीं थकते। कवर पृष्ठ के भीतर अक्टूबर, नवम्बर, दिसम्बर माह की तिथियों में मुक्तिबोध जयन्ती, एंगेल्स जयन्ती और माओ जयन्ती का उल्लेख है। लेकिन इन्हीं महीनों में जन्मे गांधी, शास्त्री, नेहरू का हवाला भी नहीं। अंक की सारी कहानियां भारतीय या विदेशी भाषाओं से अनुवादित और 'डालफिन' व 'कंगारू' जैसी कविताएं। एक अंश-

'सात माह में विकसित होकर

शावक-सा बाहर आ जाता।

तीस माह का होने पर यह,

अपना पूर्ण रूप पा जाता।'

क्या हमारे साथी साहित्यकार बड़ों के लिए ही लिखते रहेंगे? और बच्चों को 'वरिष्ठ बाल साहित्यकारों' के भरोसे छोड़ देंगे।

बच्चे इसीलिए किताब नहीं पढ़ते।



तीसरी पत्रिका भी सांस्थानिक है। 'बालवाणी' मासिक-शिशु, बाल, किशोर स्वर तीनों को समेटती है। उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान की इस पत्रिका में प्रधान, प्रबंध, अतिथि, सहायक, सहयोग के साथ-साथ मूल संपादक भी हैं। तो इतने सारे संपादक उपदेश क्यों न दें! कवर पृष्ठ के भीतर ही याद रखने वाले पांच अमृत वाक्य हैं - प्रूफ संबंधी शानदार गलतियों

के साथ। चित्र इतने बेजान की अंग्रेजी के अध्यापक (कहानी-दृढ़ संकल्प) भी धोती कुर्ता पहनते हैं। पत्रिका की दृष्टि इस कदर बेजान और अतीतजीवी है कि बच्चों से अपील/आग्रह/चेतावनी दी जा रही है - 'बर्थ डे नहीं, जन्म दिन मनाएं। समझ नहीं आता कि हिन्दी क्षेत्र के बाल साहित्यकारों में इतनी आदर्शवादिता क्यों है जो नितांत भौंडी-बचकाना और फूहड़ लगे। तीनों पत्रिकाओं से अपेक्षाएं इसलिए अधिक की जानी चाहिए कि तीनों बड़े संस्थानों से जुड़ी हैं। ♦

